पं0 श्रीराम शर्मा आचार्य की शैक्षिक अवधारणा (एक विश्लेषणात्मक अध्ययन)

डॉ0 दिनेश कुमार गुप्ता
एसो0 प्रोफेसर, शिक्षाशास्त्र विभाग
एच0आर0पी0जी0कॉलेज, खलीलाबाद संत कबीर नगर।

शोध–सार

विज्ञान ने जीवन के प्रत्येक पक्ष को प्रभावित किया है, शिक्षा भी उससे अछूती नहीं रही है। तथापि शिक्षा के उद्देश्य एवं स्वरूप के निर्धारण के लिए उसे आज भी विज्ञान के बजाए दर्शन पर ही आश्रित होना पड़ता है। क्योंकि उद्देश्य जीवन के दृष्टिकोण से जुड़ा प्रश्न है और यह दृष्टिकोण एवं दर्शन पर ही आधारित होता है। अतः उद्देश्य निर्धारण में विज्ञान अपने को असहाय और अक्षम महसूस करता है। शिक्षा और दर्शन की इसी निकटता के कारण शैक्षिक दर्शन का संप्रत्यय विकसित हुआ है। इस संबंध में पंडित श्रीराम शर्मा आचार्य का कथन उल्लेखनीय है कि कर्म विचारों के गर्भ में पकते हैं। जैसे विचार होंगे, उसी तरह की गतिविधि मनुष्य अपनाता है। इसलिए जो अपनी गतिविधि को सफल और सार्थक बनाना चाहते हैं, उन्हें प्रथमतः अपनी विचार प्रक्रिया से अवगत होना पड़ेगा, तभी वह अपने प्रयास को सफल और सार्थक बना सकता है।

वस्तुतः शिक्षा का संबंध पदार्थ से न होकर चेतनायुक्त प्राणियों से होता है। अतः इसमें मानव की चेतना और अंतर्दृष्टि के अनुरूप प्रयोग और निरीक्षण करके निष्कर्ष निकालने की आवश्यकता पड़ती है। इसीलिए कहा भी जाता है कि शिक्षा के उद्देश्यों का निर्धारण विज्ञान की अपेक्षा दर्शन के अधिक निकट है। किंतु आज शिक्षा में उसके बाह्य पक्ष पर ही सारा ध्यान केंद्रित है। जिसके द्वारा शिक्षण, अनुदेशन, मूल्यांकन, प्रशिक्षण और प्रशासन के क्षेत्र में महत्वपूर्ण प्रयोग एवं शोध करके नए–नए आयामों को विकसित किया जा रहा है। जबकि शिक्षा के आंतरिक पक्ष, शैक्षिक स्वरूप एवं उसके उद्देश्यों का निर्धारण ही शिक्षा की सबसे बड़ी समस्या है, जिसका समाधान किए बिना शिक्षा के बाह्य पक्ष पर किया जाने वाला सारा प्रयास व्यर्थ ही सिद्ध होगा।

शिक्षा एक सामाजिक संप्रत्यय है, जो समाज के संदर्भों में विकसित होती है। मानव सभ्यता के विकास के साथ साथ शिक्षा लगातार सुव्यवस्थित एवं सुदृढ होती रही है। समाज आज विकास के जिस पायदान पर खड़ा है, उसमें विज्ञान और तकनीकी की महत्वपूर्ण भूमिका रही है, जिससे शिक्षा भी अछूती नहीं है। यद्यपि विज्ञान ने शिक्षा के बाह्य पक्ष शिक्षण, अन्वेषण, मूल्यांकन, प्रशिक्षण एवं प्रशासन के क्षेत्र में महत्वपूर्ण प्रयोग एवं शोध करके नए–नए आयामों को विकसित किया है। जिसके कारण शैक्षिक तकनीकी का एक नया अनुशासन निर्मित हुआ है, जिसने शिक्षा की प्रकृति को पूरी तरह से वैज्ञानिक बना दिया है। तथापि शिक्षा के आंतरिक पक्ष उद्देश्य, पाठ्यक्रम, स्वरूप इत्यादि के लिए उसे पूर्णतया दर्शन पर ही आश्रित होना पड़ता है, क्योंकि उद्देश्य जीवन के दृष्टिकोण से जुड़ा प्रश्न है और यह दृष्टिकोण दर्शन पर आधारित होता है। अतः शिक्षा के उद्देश्य एवं स्वरूप के निर्धारण में विज्ञान अपने को असहाय और निर्बल महसूस करता है, क्योंकि विज्ञान भौतिक नेत्रों से वास्तविकता का परीक्षण करता है, जबकि जीवन के दृष्टिकोण का निर्धारण भौतिक नेत्रों से नहीं, अपितु अंतरिक्ष चक्षुओं से करना पड़ता है। इसलिए शैक्षिक उद्देश्य और उसके स्वरूप का निर्धारण एवं साथ ही शैक्षिक अवधारणा की वास्तविक संकल्पना ही आज शिक्षा की सबसे प्रमुख समस्या है।

वस्तुतः प्रत्येक देश की सांस्कृतिक, सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियां भिन्न

भिन्न होती है। अतः उनका दृष्टिकोण और चिंतन भी भिन्न–भिन्न हो जाता है, जो किसी देश के शैक्षिक स्वरूप को निर्धारित करने में आधार रूप में कार्य करते हैं। इसलिए अलग–अलग देशों में शिक्षा के स्वरूप, उद्देश्य और उसकी शैक्षिक अवधारणाएं भिन्न भिन्न होती हैं। हमारी प्राचीन भारतीय शिक्षा व्यवस्था भी इस रूप में सबसे अलग और विशिष्ट रही है। जिसने दुनिया को नालंदा और तक्षशिला के रूप में प्राचीनतम विश्वविद्यालय दिया। जहां सुदूर देशों के विद्यार्थी अध्ययन के लिए आकर्षित होते रहे हैं। किंतु परिस्थिति जन्य कारणों और मुगल शासकों की अविवेकपूर्ण नीतियों ने भारतीय शिक्षा व्यवस्था को धार्मिक संकीर्णता के दायरे तक सीमित कर दिया। जिससे प्राचीन भारतीय शिक्षा व्यवस्था छिन्न–भिन्न होती रही।

वर्तमान भारतीय शिक्षा व्यवस्था अंग्रेजों की देन है, जो भारतीय परिस्थितियों के सर्वथा अनुकूल नहीं थी। इसके बावजूद भी हमने प्राचीन भारतीय शैक्षिक परंपरा को नकारते हुए पाश्चात्य दर्शन पर आधारित अंग्रेजों की शिक्षा व्यवस्था को स्वीकार करनेकी भूल की, जिसका परिणाम है कि आज के विद्यार्थियों में बुद्धिमत्ता तो बढ़ गई है, लेकिन उसे ऐसा कुछ भी हस्तगत नहीं हो पा रहा है, जिसे अंतःचेतना का परिष्कार कहा जा सके। इसीलिए आज के विद्यार्थियों में अंतःचेतना के परिष्कार का अभाव होने के कारण उनकी सारी उपलब्धियां और संभावनाएं अधूरी रह जाती है। क्योंकि जिस तथाकथित वैज्ञानिक और तकनीकी विकास की कभी कल्पना तक नहीं की गई थी, उसी के शीर्ष पर बैठा हुआ आज का मानव व्यथित, दुखित एवं दिगभ्रमित होकर अनैतिकता और अदूरदर्शितापूर्ण कार्यों में निरत है। जिसकी भरपाई के लिए अब पाठ्यक्रमों में अलग से मूल्यपरक शिक्षा का उपक्रम किया जा रहा है। अतः स्वतः सिद्ध मीमांसा यह है कि हमें पुनः अपनी गौरवान्वित परंपरा को पुनर्जीवित करने के लिए प्राचीन भारतीय साहित्य का अध्ययन करके उन सिद्धांतों की खोज करनी पड़ेगी, जिसके द्वारा साधारण सा मानव महामानव बन जाता था। वस्तुतः धर्म दर्शन और विज्ञान, मानव सभ्यता के विकास की तीन प्रबल शक्तियां हैं, जिनका टकराव संपूर्ण मानव जाति को कभी वास्तविक सुख शांति नहीं दे सकता। भारतीय संस्कृति में अनेक ऐसे महामानव हुए हैं, जिन्होंने धर्म, दर्शन और विज्ञान में समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया और इन्हीं मान्यताओं पर स्वयं अपने जीवन को प्रयोगशाला सदृश्य जीकर अपने प्रत्यक्ष अनुभवो के आधार पर समाज को जो कुछ दिया है, उससे न केवल वर्तमान के उलझनो को सुलझाया जा सकता है, अपितु एक सुनहरे भविष्य का निर्माण भी किया जा सकता है। इसक्रम में मृत्युपर्यंत लोकमंगल के कार्यो में निरत रहने वाले महामनीषी पंडित श्रीराम शर्मा आचार्य की शैक्षिक अवधारणा अपने आप में विशिष्ट है, जो आदर्शवाद और प्रयोजनवाद के द्वंद में उलझी हुई वर्तमान भारतीय शिक्षा में समन्वय और संतुलन स्थापित करते हुए सामाजिक संदर्भों के अनुरूप समुचित दिशा प्रदान करने में समर्थ है। वस्तुतः शिक्षा का संबंध पदार्थ से न होकर चेतनायुक्त मानव से होता है। इसलिए इसमें भौतिक और यांत्रिक प्रयोग असंभव होता है। जबकि दर्शन का क्षेत्र विज्ञान की अपेक्षा अधिक व्यापक है, क्योंकि इसमें मानव की चेतना और अंतर्दृष्टि के अनुरूप प्रयोग एवं निरीक्षण करके निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। ब्रह्मवर्चस शोध संस्थान शांतिकुंज हरिद्वार इसका प्रबल प्रमाण है। इसलिए कहा जाता है कि शिक्षा के स्वरूप का निर्धारण करना, केवल दर्शन के द्वारा ही संभव है। शिक्षा और दर्शन की इसी निकटता के आधार पर ''शिक्षा दर्शन'' का संप्रत्यय विकसित हुआ है। दर्शन जीवन का लक्ष्य निर्धारित करता है, जिसकी प्राप्ति शिक्षा के द्वारा होती है। शिक्षा दर्शन के इस संप्रत्यय को समझने के लिए कुछ दार्शनिक परिभाषाओं को समझना समीचीन होगा।

वस्तुतः दर्शन शब्द की व्युत्पत्ति दृश् धातु से हुई है, जिसका अर्थ है देखना। वास्तव में दार्शनिक संदर्भों में देखने का संबंध बाह्य चक्षुओं से न होकर आंतरिक चक्षुओं से होता है। उपनिषद में भी लिखा गया है कि ''दृश्यते अनेन

इति दर्शनम'' अर्थात जिससे सत्य के वास्तविक स्वरूप का बोध हो, वही दर्शन है। विभिन्न विद्वानों ने दर्शन को निम्नांकित शब्दों में परिभाषित किया है। ''यथार्थ के स्वरूप को जानने के लिए व्यवस्थित रूप से निरंतर प्रयास करना ही दर्शन है।'' सेलर्स[1] ''दृश्य जगत की अपेक्षा यथार्थ के ज्ञान का प्रयत्न करना ही दर्शन है।'' ब्रेडले[2] ''दर्शन यथार्थ के स्वरूप का तार्किक विवेचन है।'' डॉ राधाकृष्णन[3] ''जो हमें आभासित सत्य से वास्तविक सत्य की ओर ले जाए, वह दर्शन है।'' महाकाव्य गीता[4]

भारतीय संस्कृति की सबसे प्रमुख विशेषता विवेकनिष्ठ ज्ञान है। इसीलिए दुनिया के विभिन्न संस्कृतियों में जहां परंपरागत मान्यताओं के विपरीत निष्कर्ष निकालने वालों को यातनाएं दी गई, वहीं ''हमारे यहां नवीन जीवन तथ्य के प्रतिपादको को, जीव जगत के सूक्ष्म या स्थूल क्षेत्रों में नई नई खोज करने वालों की पूजा की गई है। यह हमारी विवेकनिष्ठा और ज्ञान के प्रति प्रेम का परिचायक है।''[5] किंतु आज का ज्ञान डिग्रियों से आबद्ध कर दिया गया है। जिसका आधार स्वतंत्र चिंतन न होकर एक निश्चित पाठ्यक्रम को पढ़कर उसकी परीक्षा उत्तीर्ण कर लेना मात्र रह गया है। आज विद्यालयों में जो कुछ पढ़ाया सिखाया जा रहा है, उसका आधार मात्र इतना है कि जैसे जीवन से जुड़े हुए कुछ निश्चित प्रश्न है और उनका विशिष्ट उत्तर इस पाठ्यक्रम में निहित है। जबकि वास्तविकता यह है कि जीवन स्थिर नहीं, अपितु गतिशील धारणा है। जीवन यात्रा के पड़ाव पर कब कौन सी समस्या बाधा बनकर खड़ी हो जाएगी, इसका अनुमान लगाना कठिन ही नहीं, असंभव भी है। तब निश्चित उत्तरों वाले पाठ्यक्रम का औचित्य समझ से परे है। पिछले कुछ शताब्दियों से इतने अधिक शास्त्र, ज्ञान विज्ञान की धाराएं खोज निकाली गई है, जितनी पहले कभी नहीं थी। फिर भी आज का विद्यार्थी कुंठा निराशा और उदासी से ग्रसित है। उसका कारण एक ही है कि विषय विशेष में योग्यता संवर्धन की शिक्षा को ही आज का शिक्षाशास्त्री शिक्षा मान बैठा है। जबकि मानव के चतुर्दिक विकास का नाम शिक्षा है। इसलिए आचार्य जी शिक्षा के पाठ्यक्रमों से अनुपयोगी विषय वस्तुओं को हटाने के पक्षधर हैं। वे लिखते हैं कि ''ऐसे प्रसंग पाठ्यक्रम से हटा दिए जाए तो उससे प्रत्यक्ष लाभ यह होगा कि उपयोगी समझे जाने वाले प्रसंगों को अधिक पढ़ने, समझने के लिए सहज रुचि बढ़ेगी और कसौटी पर यही खरा उतरने वाला ज्ञान हर किसी के लिए उत्साह का विषय बना रहेगा और अपनाया भी अधिक तन्मयता के साथ जाएगा।'' इस दृष्टि से प्रचलित पाठ्यक्रम की समीक्षा करते हुए आचार्य जी लिखते हैं कि ''कर्म विचारों के गर्भ में ही पकते हैं। जैसे विचार होंगे, उसी ढंग की गतिविधि मनुष्य अपनाएगा। अतः जो प्रयास को सफल, उपयोगी और कल्याणकारी बनाना चाहते हैं, उन्हें सर्वप्रथम अपनी विचारणा की प्रक्रिया से अवगत होना चाहिए।''[7] यदि इस तथ्य पर गहनता से विचार करें तो कहा जा सकता है कि मानव शरीर स्थूल नहीं, अपितु सूक्ष्म शरीर ही महत्वपूर्ण होता है। क्योंकि यह भौतिक शरीर जो कुछ करता हुआ दिखाई पड़ता है, वह सूक्ष्म शरीर की ही क्रिया होती है। मनुष्य जीव जगत का सर्वश्रेष्ठ प्राणी है। जिसका मूल कारण उसकी विकसित बुद्धि और विवेक ही है। इस बुद्धि और विवेक को प्राप्त करने के लिए जिस वस्तु की प्रथम आवश्यकता है, वह शिक्षा है। दूसरे शब्दों में शिक्षा ज्ञान की आधारभूमि है। किंतु वर्तमान समय में शिक्षण संस्थाओं का दायरा इतना संकुचित हो गया है कि भौतिक जानकारियों वाली अर्थकारी शिक्षा को ही सब कुछ मान लिया गया है।

आचार्य जी लिखते हैं भौतिक प्रगति कितनी ही विस्तृत क्यों ना हो जाए यदि मनुष्य का आंतरिक स्तर गिरा रहा तो उस प्रगति का उपयोग संग्रहीत बारूद में जल मरने जैसा होगा। इसलिए एक समन्वित और सार्थक शिक्षा को परिभाषित करते हुए आचार्य जी कहते हैं कि ''उपलब्धियों का सदुपयोग करके उनके सत्परिणाम हस्तगत कर सकना दूरदर्शिता एवं शालीनता के समन्वय के बिना नहीं बन पड़ता।

इस प्रसंग में अनेक सद्गुणों से बना परिष्कृत व्यक्तित्व भी कम योगदान नहीं करता। चिंतन की उत्कृष्टता ही इस स्तर का व्यक्तित्व विनिर्मित कर पाती है। इसके साथ ही सुव्यवस्था बनाने और सज्जनों का सहकार परामर्श प्राप्त करने की भी आवश्यकता पड़ती है। चेतना क्षेत्र के यह सभी साधन जिस आधार पर विनिर्मित होते हैं, वह शिक्षा है।'' इस तथ्य की पुष्टि करते हुए आचार्य जी ने लिखा है कि ''ज्ञान और आचरण में बुद्धि और विवेक में समन्वय प्रस्तुत कर सके, वही सच्चे अर्थों में शिक्षा है।'' इस आधार पर कहा जा सकता है कि यदि आजीविका मात्र ही शिक्षा का उद्देश्य रहा होता तो प्राचीन काल के बड़े बड़े राजे महाराजे, जो साधन संपन्न थे व्यर्थ ही समय और धन खर्च करके अपने लाडलों को गुरुकुलो के कष्ट साध्य वातावरण में रखकर उन्हें शिक्षा की ओर उन्मुख नहीं करते। वस्तुतः शिक्षा का प्रभाव क्षेत्र अत्यंत व्यापक है। जिसका निर्धारण कर पाना आज के वैज्ञानिक प्रगति के समर्थक प्रत्यक्षवादियों के द्वारा कदापि संभव नहीं है। क्योंकि शिक्षा जिस व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास की बात करती है, उस व्यक्तित्व का अधिकांश भाग आंतरिक होता है, जो वर्तमान भौतिकवादी शिक्षा द्वारा अछूता ही रहता है। इसलिए यदि शिक्षा को समग्र और समन्वित बनाना है, तो उसमें योग्यता संवर्धन के साथ–साथ सत्प्रवृत्ति संवर्धन के पक्ष को भी समान रूप से महत्व देना ही होगा। जिससे व्यक्तित्व का बाह्य और आंतरिक दोनों पक्ष समान रूप से विकसित और समृद्ध हो सके।

संदर्भ सूची

1–पाठक, पी.डी. एवं त्यागी, जी.एस. (1983). शिक्षा के सामान्य सिद्धांत, आगराः विनोद पुस्तक मंदिर

2–पांडे, आर. एस. (1983). शिक्षा दर्शन, आगराः विनोद पुस्तक मंदिर

3–पांडे, आर. एस. (1983). शिक्षा दर्शन, आगराः विनोद पुस्तक मंदिर

4–पांडे, आर. एस. (1983). शिक्षा दर्शन, आगराः विनोद पुस्तक मंदिर

5–आचार्य, श्रीरामशर्मा. (1991). ज्ञान योग की साधना, मथुराः युग निर्माण योजना

6–आचार्य, श्रीरामशर्मा. (1992). एक समानांतर शिक्षातंत्र, मथुराः युग निर्माण योजना

7–आचार्य, श्रीरामशर्मा. (1989). विचारों की सृजनात्मक शक्ति, मथुराः युग निर्माण योजना

8–आचार्य, श्रीरामशर्मा. (1992). एक समानांतर शिक्षातंत्र, मथुराः युग निर्माण योजना

9–आचार्य, श्रीरामशर्मा. (1991). शिक्षा और विद्या का सार्थक संबंधित स्वरूप, मथुराः युग निर्माण योजना